



दलित विमर्श में आत्मकथाओं की भूमिका

राजेश कुमारी (शोधार्थी)

साहित्य विभाग, साहित्य विद्यापीठ

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

वर्धा, महाराष्ट्र, भारत

शोध संक्षेप

आदिकवि ऋषि वाल्मीकि से लेकर आज वर्तमान समय तक दलित साहित्य के आत्मकथाकारों की अपनी एक विशिष्ट परंपरा रही है। अर्थात् रामायण काल से लेकर मुर्दहिया तक यह एक लंबा सिलसिला रहा है परंतु इसका स्वरूप बदलता गया है और दृष्टिकोण में भी परिवर्तन होता रहा है। साहित्यकारों ने आत्मकथ्य के माध्यम से वर्णवादी व्यवस्था में उनके ऊपर हुए अन्याय, अत्याचार, शोषण को अनेकानेक तरीके से अभिव्यक्त किया है। प्रस्तुत शोध पत्र में इसी पर विचार किया गया है।

प्रस्तावना

दलित विमर्श एक ऐसा विमर्श है जो शोषित, पीड़ित, अपमानित आदि लोगों की व्यथा को व्यक्त करता है। यह विमर्श उन लोगों के हताशा, निराशा, अपमान को प्रस्तुत करता है जो हजारों वर्षों से वर्णवादी समाज व्यवस्था के कारण पीड़ित एवं शोषित होता रहा है। जिसे भारतीय समाज व्यवस्था में सबसे नीचा दर्जा दिया गया है।

इस विमर्श की शुरुआत को देखते हैं तो आदि काल के प्रथम कवि सरहपाद के साहित्य में वर्ण की अभेदयता की भावना दिखाई देती है। इसके बाद भक्ति काल में निर्गुण कवियों ने भी वर्णवादी व्यवस्था का विरोध किया है, जिसमें कबीर, रैदास, नानक आदि ने भी सामाजिक जाति व्यवस्था की बुराइयों के प्रति घोर विरोध किया है। अधिकतर विद्वान कबीर के बारे में कहते हैं कि कबीर, कवि बाद में है समाज सुधारक पहले हैं।

आधुनिक काल में डॉ.भीमराव अम्बेडकर जीवनभर वर्णवादी व्यवस्था का विरोध करते रहे। वे हिंदू थे परन्तु बाद में बौद्ध हो गए। इसका प्रमुख कारण यह भी था कि वे समाज में वर्ण व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध व्यक्त करना चाहते थे। उनका कहना था कि व्यक्ति जन्म से नहीं बल्कि योग्यता एवं कर्म से पहचाना जाए। यह प्रश्न भी उठ सकता है कि वह बौद्ध क्यों हुए ? क्योंकि गौतम बुद्ध क्षत्रिय होने के बाद भी ऐसे महापुरुष थे जिन्होंने उस समय ऐसे वैदिक कर्मकांडों का विरोध किया था जो वर्ण व्यवस्था, तथा पशु बलि पर आधारित समाज था। बौद्धधर्म में सभी वर्णों के लिए द्वार खुले थे तथा जिसमें अहिंसा परमोधर्म, और मानवता का संदेश देकर आचरण की शुद्धता पर बल दिया। ऐसे महापुरुषों के कारण आज दलित विमर्श प्रकाश में आया है। दलित विमर्श और आत्मकथा

यह विमर्श सबसे पहले मराठी दलित साहित्य के रूप में आया जिसमें दलित लिखकों ने कविता,

कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथा आदि लिखा। इसी का अनुसरण करते हुए यह विमर्श हिन्दी में भी बड़ी बेबाकी से सामने आया है। दलित लेखकों ने अपनी, कविता एवं कहानी, उपन्यास, नाटक, आत्मकथाओं को भी प्रकाश में लाकर दलित समाज की पीड़ा को अभिव्यक्त किया है। दलित साहित्य में अन्य विधाओं की तरह आत्मकथा विधा भी प्रकाश में आयी है किंतु यह विधा अन्य विधाओं की अपेक्षा दलित साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

आत्मकथाओं के संबंध में पंकज चजुर्वेदी का कहना है कि 'सदियों से हमारी पुरुषवादी और सवर्ण वर्चस्ववादी संस्कृति की सबसे ज्यादा प्रताड़ना स्त्रियाँ और दलित सहते आए हैं, आज यही लोग अपनी आत्मकथा के जरिए दारुण अनुभवों का विश्लेषण संसार उद्घाटित करेंगे तो हमारा भाव लोक भी बदलेगा और हमारा वस्तु जगत भी। सब कुछ वैसा ही चलता न रह पाएगा, आत्मकथा इसी दोहरी क्रांति की कामना से जन्म लेती है वह साहित्यिक, संस्कृति और सामाजिक संस्कृति को एक साथ बदलने का काम करती है।¹ कथा का संबंध जहां कल्पना से है वहीं आत्मकथा का संबंध बीते जीवन की वास्तविक घटनाओं से है। आत्मकथा में लेखक नितांत व्यक्तिगत अनुभव को व्यक्त करने के साथ समसामयिक परिवेश से अपने को मुक्त नहीं कर पाता। दलित आत्मकथाओं में गरीबी, कुपोषण, कुव्यवस्था के साथ शोषण-अत्याचार के विभिन्न रूपों का चित्रण है। दलित रचनाकार आत्मकथा शैली में जब भोगी गई पीड़ा को व्यक्त करता है तो उसमें अनुभव की प्रमाणिकता का आ जाना स्वाभाविक है।

इस विधा की शुरुआत मराठी दलित साहित्य में हुई जैसा कि डॉ. अंबेडकर की 'मी कसा झाला'

(में कैसे बना), दयापवार की 'अछूत', शंकरराव खरात की 'तराल-अंतराल', प्रा.ई. सोनकांबले कृत 'यादों के पंक्षी', लिंबाले कृत 'अक्करमासी' आदि आत्मकथाएँ महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। मराठी साहित्य ने समूचे भारतीय दलित साहित्य को एक नयी दिशा प्रदान करता है। मराठी में दलित लेखक ने ही अपनी जीवन की कथा ही नहीं लिखी बल्कि स्त्रियों ने भी अपनी आत्मकथाएँ लिखी हैं। जिनमें किशोर शांताबाई काले कृत 'छोरा कोल्हाटी का', बेबी कांबले की 'जीवन हमारा', उर्मिला पवार की 'आयदान' आदि आत्मकथाएँ दलित विमर्श में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। दलित स्त्री आत्मकथाओं में दलित स्त्री के द्वारा भोगे गए तिहरे अभिशाप जातिव्यवस्था, पुरुष सत्तामक व्यवस्था और गरीबी की अभिव्यक्ति है। दलित आत्मकथाओं के संदर्भ में डॉ. जयप्रकाश कर्दम का कहना है कि - 'समाज के जिस विद्रूप वीभत्स, क्रूर और अमानवीय चेहरे पर गैर दलित लेखक पर्दा डालते आए थे और समाज जिस सच से साक्षात् नहीं करना चाहता था, इन आत्मकथाओं ने समाज के उस नग्न सच को बेपर्दा किया।²

इसी संदर्भ में ज्योतिबा फुले का कथन है कि 'गुलामी की यातना को जो सहता है वह जानता है और जो जानता है वही पूरा सच कह सकता है। सचमुच राख ही जानती है जलने का अनुभव कोई और नहीं।³ दलित आत्मकथाओं में तीन सूत्र निकट हैं ऐसा माना जाता रहा है। पहला- वेदना, हजारों वर्षों से यह समाज जिसे जी रहा है वह वेदना दलित साहित्य का प्रमुख अंश है। दूसरा सूत्र है- नकार का, हम यह जिंदगी नहीं चाहते, हम इंसान की जिंदगी चाहते हैं। तीसरा सूत्र है- विद्रोह, इस व्यवस्था को नष्ट करने की बात आती है कि समता, स्वतंत्रता, न्याय, बंधुता



के रूप में जो भी समाज आयेगा वह हमारा होगा।

जैसा कि सभी जानते हैं कि मराठी साहित्य से प्रेरित होकर हिंदी में दलित साहित्य की शुरुआत हुई। दलित साहित्य में हिंदी के दलित लेखकों ने अपने दुःख दर्द, पीड़ा, असहाय, मान-अपमान, शोषण, अमीर-गरीब, अशिक्षा और जिस समाज व्यवस्था ने उसका शोषण किया एवं करता रहा है उस पीड़ा को उजागर करने का उनको एक मौका मिला। मौका ही नहीं बल्कि जिस जाति व्यवस्था के दंश को हजारों वर्षों से झेलते आ रहे हैं और आज भी कहीं न कहीं इस को झेल रहे हैं उस दंश को बयान करने का एक रास्ता उन्हें दलित साहित्य की प्रेरणा से दिखलायी पड़ा।

हिंदी में भी दलित लेखकों ने मराठी दलित लेखकों की तरह ही अपनी बात कविता, कहानी, उपन्यास तथा नाटक आदि के माध्यम से रखने का प्रयास किया किंतु आत्मकथा इन सभी में अपना विशिष्ट स्थान लेकर उपजी है। जैसा कि हिंदी साहित्य में दलित आत्मकथाओं में सबसे पहले 'मैं भंगी हूँ', भगवानदास की आयी। इस आत्मकथा में विवाद है क्योंकि कुछ लोग मोहनदास की आत्मकथा अपने-अपने पिंजरे भाग-1,2 को पहली हिंदी की दलित आत्मकथा मानते हैं तो कुछ का मानना है कि भगवान की 'मैं भंगी हूँ' हिंदी की पहली दलित आत्मकथा है। इस पर तेजसिंह लिखते हैं कि 'भगवानदास की 'मैं भंगी हूँ' हिंदी का पहला आत्मवृत्त है जिस पर कोशिश करके भी कोई लेख प्राप्त नहीं कर सके।⁴

डॉ. बजरंग बिहारी तिवारी अपने दलित आत्मकथा लेखन की परंपरा शीर्षक लेख से यह आभास देते हैं कि जूठन अपने-अपने पिंजरे ही शुरुआती दलित आत्मकथाएँ हैं। इस लेख में

आत्मकथा का क्रम पहले जूठन फिर अपने पिंजरे हैं जबकि प्रकाशन वर्ष के हिसाब से अपने अपने पिंजरे 1995 में आयी थी और जूठन 1997 में। डॉ. चमन लाल 'मैं भंगी हूँ' आत्मकथा से शुरुआत ही मानते हैं।⁵ किंतु मोहनदास की अपने अपने पिंजरे 1995 ई. में प्रकाशित हुई। उसके बाद ओम प्रकाश वाल्मीकि कि जूठन, डॉ. डी.आर.जाटव की 'मेरा सफर मेरी मंजिल', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत संतप्त', माता प्रसाद की 'झोंपड़ी से राजभवन', श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', प्रो. तुलसीराम की 'मुर्दहिया' आदि दलित लेखकों की आत्मकथाएँ आयी हैं। मराठी दलित में जिस तरह मराठी भाषा में आत्मकथाएँ लिखी उन्हीं का स्रोत लेते हुए हिंदी दलित साहित्य में भी स्त्रियों ने आत्मकथाएँ लिखी हैं। जिनमें सुशीला टाकभौरे की आत्मकथा, शिंकजे का दर्द, कौशल्वा वैसन्ती की दोहरा अभिशाप आदि हैं।

ये दोनों स्त्री आत्मकथाएँ न केवल सुशीला टाकभौरे और कौशलया वैसन्ती के जीवन यथार्थ को चित्रित करती हैं बल्कि संपूर्ण दलित समाज की स्त्रियों के सुख दुख आदि जीवन की यातनाओं को अभिव्यक्त करती हैं। ये आत्मकथाएँ एक ओर दलित स्त्री होने और दूसरी ओर स्त्री होने के दंश को झेलती दलित स्त्री की कथा को चित्रित करती हैं। दलित स्त्री आत्मकथाएँ पुरुष सत्तात्मक समाज व्यवस्था और जाति व्यवस्था तथा गरीबी का चित्रण करने के साथ ही जाति के कारण किस तरह इनका शोषण होता है। उसको भी उजागर करती हैं। अन्य विधाओं की अपेक्षा आत्मकथा ने अपना अलग स्थान बनाया है वह दलित समाज की एक सख्त विधा के रूप में प्रस्तुत हुई है। शायद दलित लेखक अपनी बात को कविता, कहानी,

उपन्यास, नाटक आदि के माध्यम से अपनी पीड़ा एवं अपने समाज की दास्तान को व्यक्त नहीं कर पाये, ऐसा भी नहीं है कि इन विधाओं ने दलित समाज की पीड़ा को अभिव्यक्त न किया है किंतु जिस रूप में आत्मकथा ने इस एक दलित लेखक की पीड़ा के साथ पूरे दलित समाज की पीड़ा को देखा। इतना सत्य है कि दलितों ने हजारों वर्ष शोषण और यातना में बिताये हैं। उनके दुःखों का पारावार नहीं है, इसलिए दलित आत्मकथाओं में आक्रोश और जड़ता के विरुद्ध क्रोध होना स्वाभाविक है। नकार और विद्रोह के पार इन आत्मकथाओं में धार्मिक आस्था, सामाजिक सदभाव और मानवता के प्रति विराह प्रेम का प्रदर्शन भी हुआ है। इन आत्मकथाओं का लक्ष्य अपने शोषण और उत्पीड़न का ज्ञान सारे समाज को कराना है। दलित समाज पर जाति-पांति और छुआछूत के नाम पर सदियों से जो अत्याचार होते रहे हैं और आज भी कहीं न कहीं दिखलायी पड़ते हैं। इसका बेबाकी के साथ चित्रण किया है। दलित आत्मकथाएँ ऐसे दर्शन का निषेध भी करती हैं जो हमें सांसारिकता से विमुख करके अनदेखी अनजानी पारलौकिकता के अंधकूप में न धकेल दे जिसमें वह सदियों से पड़ा रहा है।

ये विधा दलित वर्ग की पीड़ा जो सदियों से जैसे भूख की ही लड़ाई लड़ता आया है रोटी के नाम पर उसे खराब अन्न और प्यास के नाम पर नीचे घाट का दूषित जल ही उसके हिस्से में रहा है। गांव और नगर के बाहर निवास के नाम पर गंदी बस्तियाँ उसका आवास रही हैं जिनका मालिकाना हक भी अकसर उसका नहीं होता। जब चाहे वह उजाड़ा और जलाया जाता रहा है। ये आत्मकथाएँ उनकी पीड़ा को प्रकाश में लाती रही हैं। दलित आत्मकथाएँ सामाजिक समानता

के साथ साथ आर्थिक स्वतंत्रता की भी मांग करती हैं। ये आत्मकथाएँ मूलतः सामाजिक क्रांति की देन हैं। समाज में जो वर्ग सदियों से हाशिए पर रहा जिसको शिक्षा, संपत्ति और धर्म दायरे से दूर रखा गया, उस शोषित और उत्पीड़ित व्यक्ति को समाज की मुख्यधारा में जोड़ने के लिए व उसकी आवाज को समाज के एक बहुत बड़े हिस्से तक पहुँचाने के लिए दलित आत्मकथाकारों ने जो कि उस समाज का ही एक हिस्सा है, ने दलित आत्मकथाओं का सहारा लिया।

निष्कर्ष

ये आत्मकथाएँ एक व्यक्ति विशेष न होकर समाज विशेष का कार्य कर रही हैं और अपने समाज का जो हजारों वर्षों से शोषण का शिकार रहा है जिसका कारण भारतीय समाज की जाति व्यवस्था और समाज व्यवस्था रही है। ये दलित आत्मकथाएँ आज उस भारतीय समाज व्यवस्था के यथार्थ रूप का चित्रण प्रस्तुत कर रही हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

- 1 हंस, संपादक राजेंद्र यादव, नई दिल्ली, पृ. 37
- 2 हंस, संपादक राजेंद्र यादव, नई दिल्ली, पृ. 37
- 3 हिंदी साहित्य में दलित लेख की प्रवृत्ति, स्मारिका, सं.- भगवानदास, सह-सं. डॉ. सियाराम मीणा, प्रकाशक हिंदी विभाग, राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बूंदी, राजस्थान, पृ. 32
- 4 अपेक्षा में दलित का आत्मवृत्त का प्रतिपक्ष, शीर्षक संपादकीय लेख, तेजसिंह, जुलाई सितंबर 2003, पृ. 6
- 5 हिंदी दलित आत्मकथा का आरंभ, डॉ. चमनलाल, पृ. 108